समाधिमरण जीवन से भागना नहीं

रञ्जन कुमार

जैन दर्शन के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य है आत्मा के सत्य स्वरूप की प्राप्ति। आत्मा के सत्य स्वरूप को पहचानने लिए साधना की आवश्यकता होती है। आत्मा के स्वरूप पर पड़े कर्मों के आवरण को क्षीण करते हुए आगे बढ़ते जाना साधना की यात्रा है। "उवासगदसाओ" में कहा गया है कि व्यक्ति अपने शरीर की परिपालना सिर्फ इसीलिए करता है कि वह उसके धर्मानुष्ठान में सहायक है।[1] यह निर्विवाद सत्य है कि न कोई सदा युवा रहता है और न कोई अमर है। युवा वृद्धत्व को प्राप्त करता है, स्वस्थ रुग्ण हो जाता है, सबल दुर्बल हो जाता है। रोग और दुर्बलता के कारण व्यक्ति अपनी धार्मिक क्रियाएँ (सभी तरह की क्रियाएँ) करने में असमर्थ हो जाता है। इस परिस्थिति में मन में कमजोरी आ जाती है, उत्साह क्षीण होने लगता है, जीवन भार स्वरूप लगने लगता है। ऐसे समय में जैन दर्शन व्यक्ति को कए मार्ग दर्शित करता है। वह मार्ग है "समाधिमरण" या "सल्लेखना"।

समाधिमरण में व्यक्ति शांतचित्त एवं दृढ़तापूर्वक शरीर के संरक्षण का भाव छोड़ देता है। इसके लिए वह आहारादि का त्याग कर निर्विकल्प भाव से एकान्त और पवित्र स्थान में आत्म चिन्तन करते हुए मृत्यु के आने का इन्तजार करता है। यही समाधिमरण कहलाता है। इसे सल्लेखना, संथारा, संन्यासमरण, अंतक्रियामरण, मृत्युमहोत्सव के नाम से भी जाना जाता है। यद्यपि कुछ लोगों ने समाधिमरण को जीवन से भागने वाला व्रत बतलाया है, वस्तुतः ऐसा है नहीं। समाधिमरण जीवन से भागना नहीं अपितु साहसपूर्वक मृत्यु का सामना करना है।

सल्लेखना के स्वरूप पर विचार करने पर इस बात की सत्यता का बोध हो जाता है। प्रसिद्ध ग्रन्थ "रत्नकरंडकश्रावकाचार[2] के अनुसार—समाधिमरण का व्रत भयंकर दुर्भिक्ष, अकाल, उपसर्ग आदि की स्थिति में, वृद्धावस्था में असाध्य रोग हो जाने की स्थिति में धर्म की रक्षा के लिये शरीर त्याग कर पूरा किया जाता है।

"राजवार्तिक"[3] के अनुसार जरा, रोग, इन्द्रिय व शरीर बल की हानि तथा षडावश्यक का नाश होने की स्थिति में समाधिमरण का व्रत ग्रहण किया जाता है। 'सागरधर्मामृत'[4] में

---

१. उवासगदसाओ पृ० ५४

२. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतिकारे।
धर्मायतनु विमोचन भाहुः सल्लेखना मार्याः ॥ ८।१

रत्नकरंड श्रावकाचार

३. जरा रोगेन्द्रिय हानि भिरावश्यक परिक्षये ७।२२ राजवार्तिक

४. देहादिवैकृतैः सम्यग्निभित्तैश्च सुनिश्चते।
मृत्युवाराधनामग्नयतेन्द्ररेन तत्पद ॥८।१०॥ सागरधर्मामृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कुछ ऐसी ही अवस्थाओं में समाधिमरण ग्रहण करने के विधान का वर्णन मिलता है। ऐसी सुनिश्चित देहादिक विकारों के होने पर अथवा ऐसे कारण उपस्थिति हो जाने पर जिससे यह शरीर नहीं ठहर सकता तो समाधिमरण व्रत ग्रहण करने पर मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति होती है।

समाधिमरण का व्रत बलपूर्वक या किसी के भय से नहीं की जाती है यह व्रत सर्वदा व्यक्ति, साधक, क्षपक (मुनि, व्यक्ति जो समाधिमरण ग्रहण करता है) के स्वतः प्रेरणा पर निर्भर है। वह निश्चय करता है कि समाधिमरण का व्रत ग्रहण करें तथा धर्म की रक्षा के लिये अपने शरीर का त्याग करे। "सर्वार्थसिद्धि" तथा "राजवार्तिक" दोनों ही ग्रंथों में बलपूर्वक समाधिमरण कराने का निषेध किया गया है। इन ग्रंथों के अनुसार समाधिमरण बलात् नहीं कराई जा सकती है। प्रीति के रहने पर ही यह व्रत पूर्ण होता है।[१]

संयम की रक्षा नहीं होने पर व्यक्ति समाधिमरण का व्रत ग्रहण करता है। लेकिन सिर्फ संयम की रक्षा के लिये ही प्राण त्याग करना समाधिमरण नहीं कहलाएगा। संयम रक्षा के साथ-साथ धर्म की रक्षा भी अनिवार्य है। धर्म की रक्षा से तात्पर्य है– ब्रह्मचर्य के पालन में बाधा, शरीर के सभी अंगों का काम नहीं करना, उपसर्ग, दुर्भिक्ष आ जाने पर भयंकर कष्ट होना और इन कष्टों को नहीं सह पाना। इसके अलावा ऐसी स्थिति पैदा हो जाना कि प्राण रक्षा संभव न हो। इन्हीं परिस्थितियों में संयम की रक्षा के लिये प्राण त्याग किया जा सकता है और यह प्राण त्याग ही समाधिमरण कहलाएगा। इसी का समर्थन जैन ग्रंथों और जैन मुनियों के द्वारा संभव है।

समाधिमरण व्रत ग्रहण करने के पहले कषायों को क्षीण करना आवश्यक है। कषायों को क्षीण करने के लिये समाधिमरण व्रत ग्रहण करने वाला साधक अपने शरीर को कृष करता है। शरीर को कृष करने के प्रयास में वह नाना प्रकार के उपायों का प्रयोग करता है। "भगवती आराधना"[२] के अनुसार साधक सर्वप्रथम अनशन करके तप करने का समय बढ़ाकर शरीर को कृष करता है। वह एक नियम लेता है और उसी के अनुसार एक दिन उपवास तदुपरांत बृत्ति संख्यान आदि अनशनों को करते हुए शरीर को कृष करता है। साधक नाना प्रकार के रस वर्जित, अल्प, रूक्ष, आचाम्ल भोजन अपने सामर्थ्य के अनुसार लेकर शरीर को कृष करता है। अगर साधक की शारीरिक शक्ति अभी काफी ज्यादा रहती है तो वह बारह भिक्षु प्रतिमाओं को स्वीकार करके अपने शरीर को कृष करता है।

जैन मुनि, श्रावक, व्रती की दृष्टि में आत्मा (आत्मिक गुणों) का अधिक महत्त्व है और शरीर का कम। शरीर या भौतिक दृष्टि को गौण और आध्यात्मिक दृष्टि को मुख्य उपादेय माना जाता है। अतः जैन मुनि उपसर्गादि संकटावस्थाओं में जो साधारण जनों को

---

१. न केवलिमिन सेवनं परिगृह्यते किं तर्हिप्रीत्यर्थोऽपि।
यस्यादसत्या प्रौतौ बलांत् सल्लेखना कार्यतो॥

७।२२।४१ सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक ७।२२।४।५५०।२६

२. भगवती आराधना गाथा २४६-४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचलित कर देने वाली होती है, से अविचलित रहते हुये आत्मीय गुणों की रक्षा करते हुए शरीर का त्याग कर देते हैं। प्रसिद्ध ग्रंथ "सागारधर्मामृत" में कहा गया है कि शरीर नाश होने पर पुनः प्राप्त हो सकता है लेकिन आत्म-धर्म या आत्मीय गुणों का नाश होने पर इसका पुनः प्राप्त होना असंभव है।"[1] अतः आत्मा और अनात्मा (शरीर) के भेद को समझकर व्यक्ति को समाधिमरण का अवलम्बन लेकर आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ना चाहिये।

भ्रान्तिवश लोग समाधिमरण को आत्महत्या मानते हैं। इसे जीवन से भागने वाला व्रत बताते हैं। उनके अनुसार समाधिमरण द्वारा अभिप्राय पूर्वक आयु का विनाश किया जाता है। अतः यह आत्महत्या है। इस प्रकार का दोषारोपण समाधिमरण के मर्म से अनभिज्ञ लोग ही करते हैं। वे हिंसा के लक्षण को नहीं जानते हैं, हिंसा तो वहीं होती है जहाँ प्रमादवश प्राण का नाश किया जाता है। "तत्त्वार्थवार्तिक" में कहा गया है– "राग द्वेष, क्रोधादिक पूर्वक प्राणों का नाश किये जाने पर वह अपघात कहलाता है। लेकिन समाधिमरण में न तो राग है, न द्वेष है और न ही प्राणों के त्याग का अभिप्राय है। साधक जीवन और मरण दोनों के प्रति अनाशक्त रहता है।"[2]

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने 'धर्मामृत' (सागर)[3] में कहा है आत्महत्या राग-द्वेष से युक्त होती है तथा राग द्वेष से मुक्त मृत्यु को अपघात से अलग कहा है। एक और विद्वान् आत्महत्या को अहिंसा से जोड़ते हुए अहिंसा का लक्षण बताया है। उनके अनुसार जहाँ राग द्वेष भाव की उत्पत्ति नहीं होती है वहाँ अहिंसा है तथा राग-द्वेष से युक्त भाव पैदा होने पर वहाँ हिंसा होती है। समाधिमरण करने वाला व्यक्ति राग द्वेष के नाश के अभिप्राय से एवं वीतराग भाव पूर्वक अपने प्राणों का उत्सर्ग करता है। अतः यहाँ आत्मवध का दोष नहीं रह जाता।[4]

जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने घर में अग्नि लगते देखकर यह जान जाता है कि मेरा घर अग्नि के कारण जलने से नहीं बच पाएगा और वह घर में रखी हुई अमूल्य वस्तुओं की रक्षा में तत्पर हो जाता है। उसी प्रकार जब कोई व्यक्ति इस तथ्य से अवगत होकर कि अब मेरा शरीर अधिक जीर्ण-शीर्ण हो चुका है और यह शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है, वह अपनी इस भौतिक और क्षणिक शरीर की चिंता न करके उस शरीर में रखे हुये अमूल्य आत्मिक गुणों की रक्षा के लिए राग-द्वेष, मोहादि का नाश करता है। इसके अलावा अंतकाल को अमूल्य समझकर समाधिमरण का आश्रय लेकर चिर शान्ति को प्राप्त करता है।[5]

---

१. नावश्य नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहा नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्त दुर्लभः ।। ८।७ ।। सागरधर्मा०

२. तत्त्वार्थवार्तिक भाग २, पृ० ७३७

३. धर्मामृत (सागार) पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री पृ० ३१२

४. जैनमित्र वर्ष ५७, पृ० १३९

५. धर्मामृत (सागार) पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री पृ० ३१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं० सुखलाल जी संघवी ने समाधिमरण की नैतिकता के ऊपर ध्यान आकृष्ट कराया है।[१] उनके अनुसार जैन धर्म लौकिक या आध्यात्मिक दोनों प्रकार की सामान्य स्थितियों में प्राणान्त करने का अधिकार नहीं देता है। लेकिन जब शरीर (लौकिक) और आध्यात्मिक सद्‌गुणों में से किसी एक को चुनने का प्रश्न उपस्थित हो जाए तो देह का त्याग करके भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचाने का निर्णय करना चाहिए। जैसे सती स्त्री दूसरा मार्ग न देखकर शरीर नाश के द्वारा भी अपने सतीत्व की रक्षा करती है। यदि देह और संयम दोनों की समान भाव से रक्षा हो सके तो दोनों की ही रक्षा परम कर्तव्य है, परन्तु जब एक की ही रक्षा का प्रश्न आए तो सामान्य व्यक्ति शरीर की रक्षा पसन्द करेगा और आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेगा, जबकि समाधिमरण का अधिकारी संयम की रक्षा को महत्त्व देगा। जीवन तो दोनों ही है—दैहिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन जीने के लिये प्राणान्त या अनशन की अनुमति है। भयंकर दुष्काल आदि आपत्तियों में शरीर रक्षा के निमित्त से संयम में पतित होने के अवसर आए या अनिवार्य रूप से प्राणान्त करने वाली बीमारियाँ हो जाएँ। इस कारण स्वयं को और दूसरों को निरर्थक परेशानी तथा संयम और सद्‌गुण की रक्षा संभव न हो तो मात्र समभाव की दृष्टि से समाधिमरण ग्रहण करने का विधान है।

जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन गीता भी करती है।[२] इसमें कहा गया है कि यदि जीवित रहकर (आध्यात्मिक सद्‌गुणों के विनाश के कारण) अपकीर्ति की सम्भावना हों तो ऐसे जीवन से मरण ही श्रेष्ठ है! काका कालेलकर ने भी समाधिमरण का समर्थन किया है।[३] "समाधिमरण" को उन्होंने "इच्छितमरण" कहा है। इच्छितमरण को नैतिक दृष्टि से समर्थन देते हुए उन्होंने कहा है निराश होकर, कायर होकर या डरके मारे शरीर त्याग करना एक प्रकार की हार है, जीवन से भागना है। हम इसे जीवनद्रोह भी कह सकते हैं। लेकिन जब व्यक्ति यह सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन पूर्ण हुआ, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही तब वह आत्म साधना के अन्तिम रूप में अगर शरीर त्याग करता है तो यह उसका अधिकार है और प्रशंसनीय भी है।

समकालीन विचारकों में धर्मानन्द कोसम्बी और महात्मा गाँधी ने भी मनुष्य को प्राणान्त करने के अधिकार का समर्थन नैतिक दृष्टि से किया था। गाँधी जी का कथन है कि जब मनुष्य पापाचार का वेग बलवत्तर हुआ देखता है और आत्महत्या (इच्छितमरण) के बिना अपने को पाप से नहीं बचा सकता, तब होने वाले पाप से बचने लिये उसे "इच्छितमरण" करने का अधिकार है।[४] कोसम्बी ने भी स्वेच्छामरण का समर्थन किया था और उसकी भूमिका में पं० सुखलाल जी ने कोसम्बी की इच्छा को भी अभिव्यक्त किया था।[५]

१. दर्शन और चिंतन खण्ड २ पृ०, ५३३-३४

२. अकीर्ति चापि भूतानि कथमिष्यन्ति तेऽण्ययामा।
सम्यावितस्य चाकीर्तिर्मरणाइतिरिच्यते ।। २।३४ ।। गीता

३. परमखसा मृत्यु—काका कालेलकर पृ० ४३

४. वही, पृ० ४१

५. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग-२ डॉ० सागरमल जैन पृ० ४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय नैतिक चिन्तन में जीने की कला के साथ-साथ मृत्यु की कला पर भी व्यापक चर्चा हुई है। मृत्यु की कला को जीने की कला से अधिक महत्त्व दिया गया है। जीने की कला की तुलना विद्यार्थी जीवन के अध्ययन काल से तथा मरने की कला की तुलना परीक्षा के काल से की गई है। इसी कारण भारतीय नैतिक चिन्तकों ने मरण काल में अधिक सजग रहने का निर्देश दिया है क्योंकि यहाँ चूक जाने पर पश्चात्ताप ही होता है। मृत्यु का अवसर ऐसा अवसर है जहाँ व्यक्ति अपने भावी जीवन का चुनाव करता है। जैन परम्परा में खंदक मुनि ने अपने जीवन काल में कितने ही साधक शिष्यों को मुक्ति दिलाई और स्वयं ही अंतिम समय क्रोध के कारण अपनी साधना पथ को बिगाड़ लिया। वैदिक परंपरा में भरत का कथानक भी यही बतलाता है कि इतने महान् साधक की भी मरण बेला में हिरण पर आसक्ति के कारण पशु योनि में जाना पड़ा।[१]

डा० फूलचन्द्र जैन बरैया ने भी समाधिमरण का समर्थन किया है। इनके अनुसार समाधिमरण आत्महत्या नहीं आत्मरक्षा है। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुये कहते हैं कि जैन मुनियों ने इस शरीर को केवल हाड़-मांस का पिंजरा न समझकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र का दिव्य प्रकाश पुंज माना है। मानव पर्याय को समस्त पर्यायों से मूल्यवान् माना है, क्योंकि इसी पर्याय में दुःख की अंतिम निवृत्ति हो सकती है। अतः इस महान् दुर्लभ मानव शरीर को पाकर इस मरण के दुःख से छुटकारा पाया जा सकता है। मृत्यु कब और किस समय आ जाए इसका कोई निश्चित समय नहीं है। अतः इस पर्याय को सफल बनाने के लिए सर्वदा कठोर व्रत, तप आदि की ओर उन्मुख होना चाहिए और आगमानुसार समाधिमरण व्रत का पालन करते हुए शरीर का त्याग करना चाहिए।[२]

बहुत से विचारकों ने समाधिमरण को आत्महत्या की कोटि में रखकर इस पर आक्षेप लगाए हैं। डॉ० ईश्वरचन्द्र जीवनमुक्त व्यक्ति के स्वेच्छामरण को आत्महत्या नहीं माना है लेकिन समाधिमरण को आत्महत्या की कोटि में रखकर उसे अनैतिक बताया है। इस संबध में उन्होंने तर्क भी दिए हैं। उनका पहला तर्क है कि समाधिमरण लेने वाला जैन मुनि जीवनमुक्त एवं अलौकिक शक्तियों से युक्त नहीं होता है। अपूर्णता की इस स्थिति में अनशन का जो व्रत उसके द्वारा लिया जाता है वह नैतिक नहीं हो सकता। अपने तर्क के दूसरे भाग में समाधिमरण में जो स्वेच्छामृत्यु ग्रहण किया जाता है उसमें यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर का होना बताया है।[३] डॉ० सागरमल जैन समाधिमरण का समर्थन करते हुए निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं—[४] डॉ० जैन के अनुसार जीवनमुक्त एवं अलौकि व्यक्ति ही समाधिमरण का अधिकारी नहीं है। वस्तुतः स्वेच्छामरण उस व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है जो जीवनमुक्त है और जिसकी देहासक्ति समाप्त हो गयी है, वरन् उस व्यक्ति के लिए जिसमें देहासक्ति शेष है।

---

१. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ४४३

२. जैन मित्र वर्ष ५७, पृ० १३६

३. पश्चिमीय आचार बिज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन पृ० २७३

४ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ० ४४४-४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि समाधिमरण इसी देहासक्ति को समाप्त करने के लिए है। समाधिमरण एक साधना है, इसीलिए यह जीवनमुक्त के लिए आवश्यक नहीं है। जीवनमुक्त को तो समाधिमरण सहज ही प्राप्त होता है। जहाँ तक इस आक्षेप की बात है कि समाधिमरण में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर ही अधिक परिलक्षित होता है, उसमें आंशिक सत्यता अवश्य हो सकती है, लेकिन इसका संबंध समाधिमरण के सिद्धांत से नहीं, वरन् उसके वर्तमान में प्रचलित विकृत रूप से है। लेकिन इस आधार पर इसके सैद्धांतिक मूल्य में कोई कमी नहीं आती है। यदि व्यावहारिक जीवन में अनेक व्यक्ति असत्य बोलते हैं तो क्या उससे सत्य के मूल्य पर कोई आँच आती है ? वस्तुतः समाधिमरण के सैद्धांतिक मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

संभवतः आलोचकों द्वारा समाधिमरण को अनैतिक और जीवन से पलायन करने वाला व्रत कहा गया है। यह समाधिमरण और आत्महत्या के मूल अंतर को नहीं समझ पाने के कारण ही है। आत्महत्या जहाँ भावना से ग्रसित रहती है वहीं समाधिमरण में भावना का कोई स्थान नहीं है। आत्महत्या करने वाला व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं होने के कारण प्राण-त्याग करता है। इस तरह वह जीवन से पलायन करता है। आत्महत्या करने वाले की कोई सीमित योग्यता नहीं होती। इसे वृद्ध, जवान, बच्चे, स्त्री, पुरुष सभी ग्रहण करते हैं। लेकिन समाधिमरण में सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं आदि को साधना, तप के द्वारा शांत किया जाता है। भावना पर विजय प्राप्त की जाती है। इसके बाद मृत्यु का सहर्ष स्वागत करते हुए उसे अंगीकार कर लिया जाता है। समाधिमरण करने के लिए योग्यता की भी आवश्यकता होती है। वृद्ध, असाध्यरोग से ग्रस्त तथा अनिवार्य मरण की स्थिति से पीड़ित व्यक्ति ही समाधिमरण ग्रहण कर सकता है। बच्चे, जवान, स्वस्थ व्यक्ति समाधिमरण नहीं ग्रहण कर सकते है। थोड़े से में यही कहा जा सकता है कि मरण की अनिवार्य स्थिति में समाधिमरण ग्रहण किया जाता है। यह जीवन से पलायन नहीं है। वस्तुतः समाधिमरण मृत्यु का साहसपूर्ण एवं अनासक्त भाव से किया गया स्वागत है।

●

बी० एल०-रिसर्च एसोसिएट
c/o पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान
वाराणसी ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org